

साझेदारी का बदलता स्वरूप

हृदय कांत दीवान

लेखक परिचय :

विद्या भवन सोसायटी में शैक्षिक सलाहकार, देश भर में स्कूली शिक्षा को बेहतर बनाने की दिशा में सक्रिय रूप से संलग्न।

सम्पर्क :

विद्या भवन सोसायटी, फतेहपुरा, मोहनसिंह मेहता मार्ग, उदयपुर, राज.

सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विचार पर बात करने से पहले यह समझने की आवश्यकता है कि 'सार्वजनिक' से हमारा आशय क्या है। यदि अवधारणा के स्तर पर देखें तो सार्वजनिक का एक अर्थ सिर्फ सरकारी व्यवस्थाओं से लिया जाता है और इसमें सभी शासकीय संस्थान आ जाते हैं जैसे कि राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, जिला शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, सीमेट और स्कूल आदि। सर्व शिक्षा अभियान भी इसमें शामिल हो जाता है क्योंकि उसे सरकार ने एक संस्था के रूप में स्थापित किया है। दूसरे अर्थों में सार्वजनिक संस्थाओं से आशय उन संस्थानों से होता है जिन्हें जनता के हित में काम करने की भावना से बनाया गया है। जिस तरह सर्व शिक्षा अभियान है उसी तरह की संस्थाएं एकलव्य, दिगन्तर या विद्याभवन भी हैं। ऐसी बहुत-सी बड़ी-बड़ी संस्थाएं हैं जिन्हें जनहित में काम करने के लिए बनाने में बहुत से लोग जुड़े। इस अर्थ में हम सार्वजनिक को 'नागरिक समाज' की संस्थाएं भी कह सकते हैं। इसमें पंचायती राज संस्थान भी शामिल हो जाते हैं। यह सार्वजनिक की एक अलग अवधारणा है। तीसरे अर्थों में हम उन संस्थाओं की बात करते हैं जो सीधे-सीधे सरकारी तो नहीं हैं, जैसे कि अहमदाबाद मिन्सूसिपल कॉरपोरेशन या दिल्ली मिन्सूसिपल कॉरपोरेशन। सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विमर्श में हमें स्पष्ट रूप से यह समझना होगा कि सार्वजनिक से हमारा आशय क्या है और चर्चा करते हुए इन तीनों प्रकार की संस्थाओं पर बात करनी पड़ेगी।

इसी तरह 'निजी' शब्द के अर्थ पर बात करें तो इसके भी बहुत से आयाम हैं और यह भी एकरूप अवधारणा नहीं है। निजी का एक अर्थ व्यक्तियों (इनडिविजुअल) से लिया जाता है, इस मायने में सार्वजनिक संस्थाओं के साथ व्यक्तियों की साझेदारी सलाहकारों या समितियों के सदस्य आदि के रूप में हो सकती है। सार्वजनिक-निजी साझेदारी का यह एक स्वरूप है और यह काफी समय से रहा है। सार्वजनिक-निजी साझेदारी के रूप में अभी जो शोर हो रहा है उसमें इस रूप को भुलाया जा रहा है। निजी के दूसरे अर्थ में कॉरपोरेट क्षेत्र आता है। कॉरपोरेट क्षेत्र पहले भी रहा है लेकिन अब इनकी भूमिका बदली है और बड़ी भी है। कॉरपोरेट क्षेत्र शिक्षा में दो तरह से जुड़ रहा है। एक, वे अपने शिक्षा संस्थान खोल रहे हैं और दूसरे वे सरकार की मदद करने की कोशिश कर रहे हैं। निजी में उन छोटे-छोटे उद्योगों को भी शामिल किया जा सकता है जो कि कॉरपोरेट से भिन्न हैं। ये उद्योग सरकारी स्कूलों या अन्य संस्थाओं द्वारा खोले गए स्कूलों की मदद करते हैं। यह निजी का एक और आयाम है।

इसकी अगली कड़ी में संस्थाएं आती हैं और इनका स्वरूप भी कई तरह का है। कुछ संस्थाएं तो ऐसी हैं जो सरकार के कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करती हैं। कुछ संस्थाएं ऐसी हैं जो सरकार के काम की दिशा को बदलना चाहती हैं। ये संस्थाएं सरकार के काम में मदद करती हैं और इनके भी कई स्वरूप हैं।

इसके अलावा कुछ निजी शैक्षिक कम्पनियां हैं। ये सरकारी संस्थाओं के साथ मिलकर शिक्षा में सुधार करना चाहती हैं और इस काम में वे अपनी भूमिका को

एक कम्पनी की तरह देखती हैं। ये कम्पनियां चाहती हैं कि उनके काम का मूल्य इनको मिले। ये इसे व्यवसाय (प्रोफेशन) मानती हैं फिर चाहे इसमें शुद्ध लाभ न हो लेकिन वे इसका मूल्य लेना चाहती हैं। इसी क्रम में आगे जाकर संदर्भ केन्द्र आते हैं। ये संदर्भ केन्द्र बड़े भी हैं और छोटे भी हैं। बहुत से संदर्भ केन्द्रों का स्वरूप इतना वृहत् है कि सरकार की बहुत-सी संस्थाएं उनके साथ अन्तः क्रिया करती हैं। वर्तमान में इन संदर्भ केंद्रों में से कुछ तो ऐसे हैं जो सरकार के शिक्षा विभागों के साथ मिलकर शिक्षक प्रशिक्षणों, पाठ्यपुस्तक लेखन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को अंजाम देते हुए बेहतर शिक्षा को स्थापित करने में भूमिका अदा कर रहे हैं।

यदि संस्थाएं चलाने के एक अन्य अनुभव को देखें तो इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण 'ग्रांट इन एड' द्वारा संचालित संस्थाएं हैं। इसमें सरकार ने अच्छी शिक्षण संस्थाओं को चलाने के लिए योगदान किया। सरकार ने संस्थाओं से कहा कि आप अच्छे स्कूल चलाईए और इसके लिए संसाधनों की व्यवस्था हम करेंगे। मध्य प्रदेश में इस तरह की संस्थाओं को चलाने के लिए 105 प्रतिशत धन दिया जाता था। अर्थात् 100 प्रतिशत धन स्कूल के वास्तविक खर्च चलाने के लिए और 5 प्रतिशत संस्था चलाने के लिए दिया जाता था। राजस्थान में जो शिक्षण संस्थाएं चलती थीं उनमें उन्हें 100 प्रतिशत धन दिया जाता था लेकिन जो संस्था 2-3 स्कूल चलाती थीं उसे अपना केन्द्रीय प्रशासनिक कार्यालय चलाने के लिए भी कुछ धन मुहैया कराया जाता था। धीरे-धीरे सरकार ने इसे 90 प्रतिशत किया और अब राजस्थान सरकार इस जिम्मेदारी से पीछे हटना चाहती है। मध्यप्रदेश ने कुछ साल पहले अनुदान बंद करने का फैसला ले लिया था और यह जद्दोजहद अभी न्यायालय में चल रही है। कुछ को अनुदान मिलता है लेकिन पहले से कम। महाराष्ट्र में भी इन्हें अनुदान बन्द करने की कवायद है। राजस्थान में भी अनुदान कम किया जा रहा है।

सरकार अभी ऐसी संस्थाओं से कह रही है कि जो संस्थाएं अपने स्कूल बंद करना चाहती हैं वे बंद कर दें और जो जमीन सरकार ने स्कूल चलाने के लिए दी थी उसे वापस सरकार को सौंप दें। इन स्कूलों में जो शिक्षक कार्यरत हैं सरकार उन्हें कहीं और लगा देगी। अर्थात् सरकार कह रही है कि अब हमें स्वायत्त रूप से चलने वाले इन (अच्छे) स्कूलों की जरूरत नहीं है। सरकार का तर्क है कि इस तरह के संस्थान खर्चीले हैं और वह इन्हें नहीं चलाना चाहती। इसमें स्कूल और कॉलेज दोनों ही शामिल हैं। इसका आशय यह है कि इस दिशा में सरकार निजी साझेदारी को घटा रही है। वह साझेदारी दो दिशाओं में घटा रही है। जो संस्थाएं प्रजातांत्रिक आधारों एवं स्वतंत्र विचारों के साथ सरकार से बातचीत करना

चाहती थीं उनके साथ वह साझेदारी कम कर रही है। ऐसी संस्थाएं जो स्वायत्त रूप से अपने सिद्धान्तों के आधार पर अच्छे स्कूल चलाना चाह रही थीं उनको भी कम किया जा रहा है। इससे उलट ऐसी साझेदारी को बढ़ावा दिया जा रहा है जिसमें सरकार को दखलंदाजी महसूस न हो और उन्हें उनकी मदद नहीं करनी पड़े। जिस तरह की निजी साझेदारी का स्वरूप अभी उभर रहा उसका निहितार्थ यह है कि अब शिक्षा सरकार की जिम्मेदारी नहीं है। अर्थात् निजी संस्थान ही जिम्मेदारी ले, संसाधन जुटाएं और काम करें। इसके साथ ही संस्थाओं को नियंत्रित करने के जो मानदण्ड थे उन्हें भी ढीला किया जा रहा है। इन्हें हल्का करना भी एक तरफा ही है यानी एक तरह की संस्थाओं को अनुमति मिलेगी और उन्हें नियंत्रित भी नहीं किया जाएगा। लेकिन दूसरी तरफ ऐसी संस्थाओं को, जो कि अलग तरह से सोचती हैं और काम करना चाहती हैं, उन्हें स्कूल चलाने की अनुमति नहीं मिलेगी। मुझे लगता है कि अब ये उलझा हुआ मामला हो गया है। संविधान में शिक्षा के जो आधार हैं उन पर सरकार मजबूती से नहीं खड़ी हैं।

यदि इस पृष्ठभूमि में सार्वजनिक-निजी साझेदारी की बात करें और इसके इतिहास को देखें तो हमारे देश में साझेदारी के हर तरह के अनुभव हैं। सरकारी ढांचे के साथ हस्तक्षेप के कई उदाहरण हैं। इसका एक बड़ा प्रयास 1972 से शुरू हुआ था जिसका प्रमुख हिस्सा होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम है। यह सार्वजनिक-निजी साझेदारी का एक ऐतिहासिक उदाहरण था जिसमें कई तरह की संस्थाएं और व्यक्ति शामिल थे। यह प्रयास काफी लम्बे समय तक चला और यह बहुत ही गहरा प्रयास था। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने जितनी भी संस्थाओं को शिक्षा में काम करने के लिए पैसा दिया वे भी सार्वजनिक-निजी साझेदारी का ही उदाहरण हैं। मुझे लगता है कि अभी जो विमर्श चल रहा है उसमें हम सार्वजनिक-निजी साझेदारी को संकीर्ण दृष्टि से देखने लगे हैं। यदि सही मायने में इसके इतिहास को देखें तो यह लगेगा कि इसे संकीर्ण किया जा रहा है और कई स्वरूपों को जानबूझकर पीछे धकेला जा रहा है।

सरकार के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम या सर्व शिक्षा अभियान के प्रयास देखें तो उनमें भी जिस तरह के प्रयासों की गुंजाइश लोक जुम्बिश और जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में थी वैसी सर्व शिक्षा अभियान में नहीं रखी गई। सर्व शिक्षा अभियान में सरकार ने निजी क्षेत्र को साझेदारी देने के अपने रुख बदलाव किया है। सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत सरकार ने जिस तरह से साझेदारी के स्वरूप को परिभाषित करने की कोशिश की उसका निहितार्थ है कि सरकारें यह कह रही है कि यह तय हम करेंगे कि

क्या करना है। इसके क्रियान्वयन के लिए कोई अन्य संस्थाएं हो सकती हैं। इसमें मान्यता यह है कि सरकारें जानती हैं कि उन्हें क्या करना है और इसके बारे में उसे किसी तरह की सलाह नहीं चाहिए।

सरकार यह भी कह रही है हमारे पास क्रियान्वयन का ढांचा नहीं है तो आप ठेकेदारी करके क्रियान्वयन कर दो। इसीलिए सार्वजनिक के दायरे को थोड़ा खोलकर देखना चाहिए। अभी सरकार कह रही है कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी को बढ़ाया जाना चाहिए तो यहां उसके कहने का आशय यही है कि खास तरह के निजी साझेदारी को बढ़ाया जाना चाहिए और निजी को सरकार की ज्यादा मदद की जरूरत है। इसके लिए उन्हें कुछ छूट भी दे सकती है। सरकार से यह निजी संस्थान उन संस्थाओं से कहीं ज्यादा छूट ले रहे हैं जितनी मदद सरकार पहले संस्थाओं की कर रही थी। इस तरह की भागीदारी में निजी संस्थान सरकार से जितने संसाधन और मदद ले रहे हैं वह उनको जितनी मिलनी चाहिए उससे ज्यादा है।

मैं निजीकरण के बारे में यह नहीं कहना चाहता कि वह अच्छा है या खराब। मूल सवाल यह है कि चाहे निजी संस्थाएं हों या सरकारी, यदि वे गरीब बच्चों को अच्छी शिक्षा दे पाते हैं तो वह उचित है। अर्थात् ऐसी शिक्षा जो हमारे संविधान, लक्ष्यों के अनुरूप हो और उसमें हर इंसान के प्रजातांत्रिक अधिकारों के हकों की जगह हो, ऐसी शिक्षा कहीं से भी मिले, मेरे हिसाब से उचित है। यदि इन मानदण्डों के अनुरूप शिक्षा मिल रही है तो मैं नहीं समझता कि शिक्षा को निजी हाथों में सौंपने में कोई दिक्कत होनी चाहिए। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि, सरकार एकलव्य, दिगन्तर या किसी अन्य स्वयं सेवी संगठन से कहे कि आप हमारे पांच स्कूलों को चलाइए और इन्हें चलाने के लिए आप अपना संविधान तो उपयोग करें किन्तु यह हमारे देश के संविधान व शिक्षा के लक्ष्यों के अनुरूप हो तो मुझे इसमें किसी तरह की बुराई नहीं लगती। लेकिन इसके स्थान पर सरकार यह कहे कि यदि आपके पास पैसा है तो आप ये स्कूल चला लीजिए। और हम आपसे यह भी नहीं पूछेंगे कि आप कितनी फीस ले रहे हैं और किन मूल्यों को अहमियत दे रहे हैं, तो यह भिन्न बात हो जाएगी। इसका मतलब है कि सरकार ने संविधान के अनुरूप गरीब बच्चों की शिक्षा की प्रतिबद्धता को छोड़ दिया है। यह सिर्फ निजीकरण की ही बात नहीं है, यहां सरकार संवैधानिक प्रतिबद्धता को भी छोड़ रही है। इसीलिए यह ज्यादा चिन्ता का विषय है।

मेरा मानना है कि वर्तमान में सार्वजनिक-निजी साझेदारी बढ़ने के बजाए घट रही है। पहले से सार्वजनिक-निजी साझेदारी की जो परंपरा रही है उसे पुनर्जीवित करके यह सोचने की आवश्यकता है कि उसे कैसे मजबूत बनाया जा सकता है। क्योंकि साझेदारियों

के वर्तमान प्रस्तावों में जो दायरे संस्थाओं को मिल रहे हैं उनमें सरकारी ढांचे के साथ संवाद की गुंजाइश खत्म हो रही है। अभी सही मायने में साझेदारी की बजाए निजी और सार्वजनिक अलग-अलग हो रहे हैं। यदि हम सार्वजनिक-निजी साझेदारी में निजी का अर्थ स्वयं सेवी संगठनों या पंचायती राज संगठनों या व्यक्तियों से लेते हैं तो लोक जुम्बिश ने इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए थे और इससे स्कूलों के सुधार की दिशा में भी महत्वपूर्ण काम हुआ। उस समय कॉरपोरेट और उद्योग जगत शिक्षा के क्षेत्र में नहीं आया था। यदि सार्वजनिक का अर्थ सिर्फ सरकार से नहीं लिया जाए तो वह भी कॉरपोरेट संस्थाओं के साथ बहुत साझेदारी करता है। विदेशों में उद्योग, विश्वविद्यालयों की बहुत मदद करते हैं। उनको चलाने का काफी धन उद्योग से आता है। हमारे यहां उच्च शिक्षा के विश्वविद्यालयों ने अपनी शर्तों पर कभी भी साझेदारी नहीं की। उन्होंने कभी भी उद्योग जगत के साथ साझेदारी नहीं की कि, आप हमारे यहां शिक्षा में निवेश करिए। इसमें एक अपवाद शायद आईआईएम है तो वह भी कॉरपोरेट सार्वजनिक के साथ बहुत ही अन्तः क्रिया करता है। लेकिन अभी की साझेदारियों में कॉरपोरेट जगत को विश्वविद्यालय चलाने का लाइसेंस दिया जा रहा है। यदि कॉरपोरेट जगत और नौकरशाह ही सब कुछ कर सकते हैं तो विश्वविद्यालय का क्या उपयोग है ? क्योंकि वर्तमान में प्रबंधन संस्थान और विश्वविद्यालय पर्याप्त मात्रा में हैं, इसलिए और नए खोलने की जरूरत नहीं है। यदि सभी संस्थानों को आईएएस या कॉरपोरेट जगत को ही चलाना है तो विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा या शोध की जरूरत नहीं है। शायद हमें यह विचार करने की जरूरत है कि हम किस दिशा में बढ़ना चाहते हैं ? निजी विश्वविद्यालय का क्या अर्थ है और इन्हें खोलने का अधिकार किसको मिलना चाहिए और इसका ढांचा क्या होना चाहिए, इन सब सवालों पर सोचने की आवश्यकता है।

यदि सार्वजनिक-निजी साझेदारी तहत सरकार निजी संस्थाओं से कहे कि वे स्कूल या अन्य शैक्षिक संस्थाएं चलाएं जैसे कि डाइट, सीमेट आदि-आदि तो मेरे हिसाब से इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। संस्थाएं चलाने का तरीका शिक्षा के उद्देश्यों, संविधान व सभी को बेहतर शिक्षा उपलब्ध करवाने के दर्शन के तहत रहते हुए स्वतंत्र हो लेकिन इन्हें चलाने के लिए संसाधन सरकारी होने चाहिए। जो नियम कायदे संस्थाओं को बांध देते हैं उन्हें ढीला किया जाना चाहिए लेकिन यह कहना कि यदि संसाधन आप जुटा लें तो जो आपकी मर्जी में आए वह आप करिए, मुझे इसमें बहुत गहरी समस्या लगती है। अगर बहुत काबिल और सक्षम लोगों को सरकार रख नहीं सकती, उनके लिए जगह नहीं बना सकती या सरकारी ढांचे का

स्वरूप इतना उलझ गया है और उसे सही नहीं किया जा सकता तो इसके लिए छोटे-छोटे ढांचों की जरूरत पड़ेगी। इसीलिए ग्रांट इन एड संस्थाओं के ढांचे में दिया विचार अच्छा था। उस ढांचे को भी सरकारी तंत्र के अनियंत्रित व भ्रष्ट हस्तक्षेप ने रगड़-रगड़ कर जबरदस्ती खराब कर दिया। यदि इस अनुभव से सीखा जाए तो इसका मतलब होगा कि सरकार संसाधन जुटाए, उपयुक्त संस्थानों को चुनकर उन्हें स्वतंत्रता दे। संस्थाओं की पहचान के सक्षम मानदण्ड होने चाहिए जिससे कि सही मायनों में अच्छी संस्थाओं को पहचाना जा सके। इन आधारों पर सार्वजनिक-निजी साझेदारी की बात की जा सकती है। लेकिन इसके बजाए यह कहा जाए कि जिन संस्थाओं के पास पैसा है, अंग्रेजी है या बड़े-बड़े ढांचे चलाने का अनुभव है; चाहे वह कबूतर पालन का ही अनुभव हो वह शिक्षा के संस्थान चला सकता है, तो मुझे इसमें समस्या लगती है। कुछ अपवाद स्वरूप कॉरपोरेट क्षेत्र के संस्थानों को छोड़कर ज्यादातर की शिक्षा के काम को बेहतर तरीके से चलाने की तैयारी नहीं है। ये संस्थान ऐसा भी नहीं सोचते कि पहले वे अपनी क्षमता विकसित करें और फिर हस्तक्षेप करें।

आजकल सार्वजनिक-निजी साझेदारी के नाम पर यह बहुत हो रहा है कि बड़े-बड़े कॉरपोरेट, जो किसी भी क्षेत्र में काम कर रहे हों, बिना शिक्षा में अपनी क्षमता पैदा किए, काबिलियत विकसित किए कह रहे हैं कि वे शिक्षा के मामले में सरकार को सलाह दे सकते हैं और शिक्षकों, डाइट और यहां तक कि राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद की फेक्लटी का प्रशिक्षण कर सकते हैं, मुझे इसमें बहुत बड़े खतरे दिखाई देते हैं। सोचने की बात यही है कि जिन संस्थानों के पास शिक्षा में हस्तक्षेप करने की क्षमता नहीं है लेकिन वे कह रहे हैं कि उनके पास संसाधन हैं, उन्हें सरकार से पैसे नहीं चाहिए और उन्हें शिक्षा में हस्तक्षेप करने की जिम्मेदारी सौंपने के बारे में सोचा जा रहा है। जबकि सरकार भी यह कह रही है कि उसके पास शिक्षा के लिए पैसों की कमी नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण के पैरोकार यह तर्क दे रहे हैं कि अन्य उपभोग्य वस्तुओं की तरह यदि शिक्षा को बाजार के खुले हाथों में छोड़ दिया जाए तो 'प्रतिस्पर्धा' के नियम से गुणवत्ता स्वतः ही तय हो जाएगी। लेकिन पूरी दुनिया का यह अनुभव है कि जो क्षेत्र इंसान की बुनियादी आवश्यकताओं से जुड़ते हैं, फिर चाहे वह शिक्षा हो, स्वास्थ्य हो या भोजन हो या मानवीय समता या स्वतंत्रता हो; निजीकरण की प्रक्रियाएं कभी भी इन्हें सभी की बराबरी की तरफ नहीं ले गई हैं। किसी भी देश को उदाहरण के रूप में देखें तो लगता है कि जहां भी गैर-बराबरी रही है सरकार ने ही गरीब बच्चों की शिक्षा के प्रयास किए हैं। कुछ व्यक्ति व संस्थाएं अपने-अपने

स्तर पर मदद करती हैं किन्तु प्रमुख दायित्व शासन का ही है। अमेरिका में भी बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी सरकारों की ही है। जहां बाजार का सबसे ज्यादा बोलबाला है वहां भी शिक्षा को सरकार ही मुहैया करवाती है, तो यह तर्क कहां से आ रहा है कि बाजार ही सभी स्कूलों की गुणवत्ता में सुधार कर सकेगा। ऐसा कहीं भी नहीं हुआ है और हो भी नहीं सकता। बाजार गरीब बच्चों को क्यों शिक्षा देगा, इसका कोई कारण नहीं है। यदि हमारे देश के संदर्भ में बात करें तो यहां तो निजी स्कूल बहुत पहले से हैं। शहरों में जो निजी स्कूल हैं वे शिक्षा का बाजार ही हैं। क्या वे शिक्षा को बेहतर कर रहे हैं ? सही मायने में तो वे कोचिंग क्लास चला रहे हैं।

निजीकरण, बाजार व शिक्षा में इनकी भूमिका बढ़ाने के बारे में चर्चा करते समय यह भी देखना होगा कि बाजार शिक्षा की मांग किस तरह पैदा करेगा ? शिक्षा की गुणवत्ता से हम समझते क्या हैं ? यदि इसका मतलब यह है कि हर व्यक्ति, हर छात्र/छात्रा सोचे कि वह किसी दूसरे को गड्डे में डालकर उसके ऊपर खड़ा हो जाएं, तो बाजार जरूर इस तरह की शिक्षा को आगे बढ़ाएगा। लेकिन यदि हम अच्छी शिक्षा का मतलब यह समझते हैं कि हम एक-दूसरे को अच्छी तरह से समझना सीखें, अपने अधिकारों को समझें, अपनी जिम्मेदारियों को समझना सीखें और यह समझना सीखें कि पूरे समाज के विकास के लिए मैं क्या कर सकता हूं तो बाजार के लिए कभी भी यह काम स्वाभाविक नहीं हो सकता। इसीलिए शिक्षा की गुणवत्ता की बात बाजार के अन्य उत्पादों की तरह नहीं की जा सकती। यह वैसा उत्पाद नहीं है जैसा कि साबुन है। क्योंकि यदि मैं चाहूं तो साबुन खरीदूं और नहीं चाहूं तो नहीं खरीदूं। लेकिन शिक्षा के बारे में तो सरकार अपने लक्ष्यों में कह रही है कि वह सबको शिक्षा देना चाहती है। यदि कोई साबुन नहीं खरीदे तो सरकार उसकी चिन्ता नहीं करती लेकिन यदि कोई शिक्षा नहीं लेता है तो सरकार को चिन्ता होनी चाहिए। बाजार क्यों चिन्ता करेगा कि आपने शिक्षा ली है या नहीं ? बाजार तो सिर्फ यह करेगा कि यदि आपके पास पैसा है तो आप आईए और शिक्षा लीजिए, नहीं है तो आपको शिक्षा नहीं मिलेगी और न ही उसे इस बात की चिन्ता है। यदि सभी को शिक्षा मुहैया करवानी है तो यह काम बाजार नहीं कर सकता।

शिक्षा व्यवस्था के संचालन की जिम्मेदारी प्रमुख रूप से नौकरशाहों की है। अतः यह देखने की जरूरत है कि हमारे सरकारी तंत्र में किस तरह के लोग हावी हैं और उनकी क्या प्राथमिकताएं हैं ? एक जमाने में जो सरकार के सचिव होते थे वे यह नहीं मानते थे कि उनको शिक्षा की पर्याप्त समझ है। वे यह मानते थे कि उनका

काम ढांचे को चलाना है और वे संस्थाएं जो शिक्षा में काम कर रही हैं जैसे कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् या राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् जैसी संस्थाएं बताएंगी कि शिक्षा में क्या करना है। लेकिन अभी जो प्रक्रियाएं चल रही हैं उनमें सरकारी अधिकारियों को लगता है कि उन्हें शिक्षा की पूरी समझ है और इनको किसी से कुछ समझने की जरूरत नहीं है। जितना इनको आता है लगभग उतना ही निजी या कॉरपोरेट क्षेत्र के लोगों को आता है तो इनको लगता है कि इन्हें पर्याप्त आता है और इनकी समझ व प्रमुख मान्यताएं भी एक समान ही हैं और ये शिक्षा को चला सकते हैं। यहां यह देखने की जरूरत है कि यह शिक्षा की काबिलियत को कैसे समझने लगे हैं। उन्हें कभी भी ऐसा नहीं लगता कि हमारे प्रदेश में इतने सारे लोग हैं और हम उनकी शिक्षा का बंदोबस्त नहीं कर पा रहे हैं। वे सिर्फ आई.आई.टी. के जैसी प्रतियोगिताओं वाले छात्रों व उनकी समस्या के बारे में भी सोचते हैं, गरीब बच्चों के पढ़ना, लिखना सिखाने के बारे में नहीं। इनकी शिक्षा के बारे में सोचने वाली, उनकी चिन्ता करने वाली संस्थाओं के साथ भागीदारी के बारे में नहीं सोचा जाता।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी का एक तर्क शिक्षा के प्रबंधकीय समस्याओं से उभर रहा है। इस साझेदारी के लिए कहा जा रहा है स्कूल उचित तरीके से कार्य नहीं कर रहे हैं, शिक्षक समय से स्कूल नहीं आते या स्कूल प्रबंधन शिक्षा विभाग या समुदाय के प्रति जवाबदेह नहीं है आदि-आदि। इसीलिए शिक्षा में मुख्य रूप से निजी क्षेत्र के प्रबंधन के तजुर्बे को लाने की पैरवी की जा रही है। दरअसल इसमें समस्या यही है कि यह विचार शिक्षा को प्रबंधन के विषय के अलावा कुछ और नहीं समझता। यह सही है कि शिक्षा की गुणवत्ता एक मायने में प्रबंधन से जुड़ती है लेकिन यह शिक्षा की सीमा नहीं है। शिक्षा की गुणवत्ता इससे कहीं आगे जाती है। शिक्षा की गुणवत्ता में शिक्षा दर्शन, समाज दर्शन और शिक्षाशास्त्र बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। हमें लगता है कि शिक्षा में अभी जिस साझेदारी की बात हो रही है, उसमें ये विचार दूर-दूर तक दिखाई नहीं देते। अभी साझेदारी के लिए जिन संस्थाओं के साथ अनुबंध हो रहे हैं उनमें से ज्यादातर संस्थाओं की इन विषयों पर तैयारी नहीं है। इसमें दूसरी तरह की समस्याएं भी निहित हैं। हाल की बढ़ती साझेदारियों के पीछे सरकार की मान्यता है कि वह अपने ढांचे को सुधार नहीं सकती। हालांकि यह सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है।

विकास के पूरे क्षेत्र को मात्र प्रबंधन का मसला माना गया है। बहुत से ऐसे संस्थान हैं जिन्हें या तो सरकार ने ही या इस देश के बुद्धिजीवियों ने बनाया है जो ग्रामीण प्रबंधन पर कार्य कर रहे

हैं। उनको लगा कि ऐसे लोगों की जरूरत है जो विकास को कुछ हद तक प्रोफेशनली मैनेज कर सकें। उस समय यह माना गया था कि जो विकास के होने वाले प्रबंधक हैं वे विकास के क्षेत्र की संस्थाओं में जाकर काम करें, उस पूरी प्रक्रिया को समझें और उनसे सीखें और उसमें प्रबंधन का थोड़ा बहुत हिस्सा डालें। लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे समस्या जटिल होती गई और हमने देश के विकास की केन्द्रीकृत व्यवस्था के बारे में सोचना शुरू किया, जैसे-जैसे यह ज्यादा व्यवस्थागत मामला होता गया। क्योंकि जब भोपाल में बैठा कोई आईएएस अधिकारी यह मानता है कि यदि वह स्कूलों के लिए जवाबदेह है तो उसे पता होना चाहिए कि इस समय प्रान्त के हर स्कूल में क्या हो रहा होगा और वह एक जैसा ही होना चाहिए, तो इसका एक ही तरीका है कि शिक्षा को एक औद्योगिक उत्पाद की तरह बना दिया जाए। जब वह औद्योगिक उत्पाद की श्रेणी में होगी तो उसका तरीका यही होगा कि कर्मचारी कारखाने में आने का समय डाल दे और जाने का भी समय डाल दे। इस मॉडल में अब हम शिक्षा में भी सिर्फ यही करना चाहते हैं। दूसरी तरफ यह भी हकीकत है कि हमें शिक्षा की शिक्षाशास्त्रीय चुनौतियों से जूझना मुश्किल लगता है। बहुत से ऐसे लोग हैं जो कि प्रमुख संस्थानों में बैठे हैं वे कहते हैं कि आप शिक्षा में शिक्षाशास्त्र या दर्शन की बात क्यों करते हैं। आप तो बस यह सुनिश्चित कर दें कि शिक्षक नियमित रूप से स्कूल में चला जाए और स्कूल खोलें। यदि यह हो गया तो बाकी काम तो अपने आप हो ही जाएगा। इस तरह का विचार बहुत से 'अच्छे' शोधकर्ताओं का भी है। अतः इस विचार के लिए सिर्फ सरकार को ही दोष देना उचित नहीं है। शिक्षा को प्रबंधन के नजरिए से देखने या स्कूल में अच्छी शिक्षा का मतलब मात्र स्कूल के खुलने और बंद होने तक सीमित होने में बहुत से शिक्षा में काम करने वाले व्यक्तियों का भी बड़ा योगदान है। यह सही है कि सरकार का जो ढांचा है और सरकार पूरे विकास को जिस तरह से देख रही हैं, उसमें शिक्षा को प्रबंधन के रूप में देखने का नजरिया और बढ़ता जा रहा है। शिक्षक की भूमिका को सामग्री देने वाला, संजोने वाला तक सीमित करना व ऐसी सामग्री का निर्माण करना जो अचूक है, शिक्षक की काबिलियत/रुचि आदि सबमें निरपेक्ष है, इसी दिशा में बढ़ने का रास्ता है। हम शिक्षक को इंसान व शिक्षा भी संवाद के स्थान पर एक की संसाधन और दूसरे की उत्पाद के रूप में देखने लगे हैं। निजी साझेदारी के नर्म स्वरूप व प्रबंधन की बढ़ती प्रमुखता भी इसे सींच रही है।

लोक जुम्बिश ने शिक्षा की व्यवस्था को विकेन्द्रीकृत करने की बहुत कोशिश की और इससे नौकरशाही को लगा कि हमारी भूमिका इसमें घट रही है। इसलिए लोक जुम्बिश का ज्यादा विरोध नौकरशाही

ने ही किया। उनका कहना था कि 'हमें तो पता ही नहीं है क्या हो रहा है, सरकार तो कुछ तय ही नहीं कर रही है। सरकार अनुदान दे रही है और तय करने वाला कोई और है'। लेकिन शिक्षा की समझ तो यही कहती है कि काम करने वाला कोई और हो और संसाधन सरकार उपलब्ध करवाए। यदि गांधीवादी विचार या स्थानीय समुदाय की जिम्मेदारी की बात करें तो फिर सरकार को कर जुटाने की जरूरत नहीं है। गांधीवादी विचार में यह माना जाता था कि स्थानीय समुदाय स्कूल को पैसा देगा और स्कूल चलाएगा। लेकिन सरकारों ने स्थानीय समुदाय को कर जुटाने की इजाजत नहीं दी और केन्द्रीयकृत रूप से कर इकट्ठा कर रही हैं, तो फिर सभी को शिक्षा मुहैया कराने या स्कूल चलाने की जिम्मेदारी भी सरकार की है। यदि कर सरकार ले और फिर यह कहे कि स्कूल बाजार चलाए या कोई और चलाए उचित नहीं है।

यदि निजी उद्यमी या बाजार द्वारा शिक्षा का संचालन किया जाएगा तो निश्चित रूप से स्कूलों के मानकों में फर्क होगा और इसका प्रभाव समाज में सभी को मिलने वाले अवसरों में दिखाई देगा। समाज में भी स्त्रीकृत व्यवस्था को और बढ़ावा मिलेगा। अभी सरकार में निजी स्कूलों को बंद करने की ताकत नहीं है। बहुत जोर-शोर से एक समिति बनाई गई है, 'समान स्कूल प्रणाली' को लागू करने के लिए। बहुत सशक्त रिपोर्ट हैं, लेकिन वह लागू नहीं होतीं क्योंकि उनमें बचने के पेंच डलवाए गए हैं जिससे वह बच सके। मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग यह जानता है कि अच्छी शिक्षा, एक खास तरह की शिक्षा उसके वर्चस्व को बनाए रखने के लिए जरूरी है। उसे अलग दिखना है। उसे शिक्षा की छलनी में से छनकर आना है। इसके लिए यह जरूरी है कि वह अपने बच्चों को अलग शिक्षा दे। यदि समान स्कूल प्रणाली लागू कर भी दी जाएगी तो उन्हें दिक्कत नहीं होगी क्योंकि वे अपने घर पर ट्यूटर रख लेंगे। जब तक हमारी अर्थव्यवस्था में किसी व्यक्ति को दो लाख रुपये महीने मिलेंगे और उसी तरह के ही किसी अन्य को दो हजार रुपये महीने मिलेंगे। तब तक यह नहीं हो सकता कि इस देश के सभी बच्चे एक जैसी शिक्षा प्राप्त करें।

शिक्षा में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के नाम पर अभी जो अधिकांश अनुबंध हो रहे हैं वे कम्प्यूटर कम्पनियों के साथ हो रहे या आधुनिक तकनीक से जुड़ी संस्थाएं हैं। कम्प्यूटर कम्पनियों के पास प्रदेश की शिक्षा को चलाने के लिए निर्देशित करने के लिए या उस पर टिप्पणी कर नियंत्रित करने के लिए कोई विशेषज्ञता नहीं है। यदि ऐसे निजी संस्थान जो कि विशेषज्ञता उत्पन्न करने शिक्षा की व्यवस्था चलाने में मदद करना चाहते हैं तो इसमें किसी तरह की दिक्कत नहीं होनी चाहिए। शिक्षा अपने आप में एक अनुशासन है

और यह भी शिक्षा क्षेत्र की गहरी समझ की मांग करता है। इसके लिए व्यक्तियों की विशेष तैयारी की आवश्यकता होती है। मुझे मालूम नहीं है कि व्यापक तौर पर कॉरपोरेट में उतनी समझ है या नहीं कि वह शिक्षा की समझ उत्पन्न करने के लिए पैसा निवेश करेगा। शिक्षा के लिए संदर्भ समूह खड़ा करना भारी निवेश की मांग करता है। जब सरकार इस क्षेत्र में निवेश करने से भाग रही है तो फिर उद्योगपति इसमें क्यों निवेश करेगा! राज्य शैक्षिक अनुसंधान परिषद् और जिला शिक्षा संस्थानों में लोग नहीं हैं। उनका समर्थन करने के लिए सरकार पैसा खर्च नहीं करना चाहती। जब सरकार यह नहीं करना चाहती तो फिर वह निजी क्षेत्र से इन क्षेत्रों में पैसा खर्च करने की उम्मीद कैसे कर सकती है! जो कुछ कॉरपोरेट इस तरह के काम में मदद कर रहे हैं, उनका कार्य काबिले-तारीफ है। वे सर्वसाधारण की शिक्षा की बेहतरी के लिए काफी प्रयास कर रहे हैं।

बाजार के हाथों में सभी व्यवस्थाओं को खुला छोड़ने का काम अर्थव्यवस्था में किया गया है। हमें नहीं मालूम उसका क्या नतीजा होगा। भारत में पूरी तरह से गैर नियंत्रित बाजार नहीं है। कुछ चीजें नियंत्रण में हैं और कुछ नियंत्रण में नहीं हैं। लेकिन इस खुलेपन का भी पूरा असर अभी हमने देखा नहीं है।

शिक्षा एक सामाजिक और संवैधानिक सरोकार है। यदि कोई कहे कि मैं एक दर्जी बनाना चाहता हूं या एक बढ़ई बनाना चाहता हूं या ड्राइवर बनाना चाहता हूं तो मुझे लगता है कि इसे नियंत्रित करने की जरूरत नहीं है। लेकिन यदि आप नागरिक बनाना चाहते हैं तो उसे नियंत्रित करना ही पड़ेगा। जो लोग यह बात करते हैं कि शिक्षा को नियंत्रित नहीं करना चाहिए वे लोग शिक्षा को कुछ और ही समझते हैं। इसीलिए उन्हें लगता है कि शिक्षा को नियंत्रित करने की जरूरत नहीं है। इसका दूसरा पहलू यह भी हो सकता है कि हमारे यहां नियंत्रण का ढांचा इतना सड़ गया है कि लोग सोचते हैं कि इसे तो हटा देना चाहिए। लेकिन यह तो हल नहीं होगा। यदि किसी के गले पर फोड़ा हो जाए तो गला थोड़े ही काटा जाएगा। इसी तरह की बात शिक्षा में चल रही है कि यदि ढांचा नहीं चल रहा तो ढांचा ही हटा दो। वास्तव में तो उसे सही करने का प्रयास करना चाहिए। इसे सुधारने के लिए एक बुनियादी सिद्धान्त यह है कि प्रजातंत्र और अपने ढांचे के प्रति विश्वास हो। इसके लिए विकेन्द्रीकृत व्यवस्था होना और अलग-अलग तरह के मॉडल होना जरूरी है। ♦